जैन संघ और सम्प्रदाय

प्रत्येक धर्म में यथासमय संघ और सम्प्रदाय खड़े हो जाते हैं। उनके पीछे सैद्धान्तिक मतभेद की पृष्ठभूमि रहती है। सैद्धान्तिक मतभेद धर्म और सम्प्रदाय के विकास की कहानी है। इतिहास इसका साक्षी है कि जिन पन्थों में मतभेद नहीं हो पाये वे प्राय: अपने प्रवर्तकों अथवा प्रसारकों के साथ ही कालकवलित हो गये और जिनमें वैचारिक मतभेद पैदा हुए वे उत्तरोत्तर विकसित होते गये।

जैनधर्म भी इस तथ्य से दूर नहीं रहा। भगवान महावीर के निर्वाण के उपरान्त ही उनके संघ में मतभेद प्रगट हो गये। पालि त्रिपिटक इसका साक्षी है।[1] वहाँ कहा गया है कि एक बार भगवान बुद्ध शाक्य देश में सामग्राम में बिहार कर रहे थे। उसी समय निगण्ठ-नातपुत्त का निर्वाण पावा में हो गया था। उनके निर्वाण के बाद ही उनके अनुयायियों (निगण्ठों) में मतभेद पैदा हो गये। वे दो भागों (पक्षों) में विभक्त हो गये थे और परस्पर संघर्ष और कलह कर रहे थे। निगण्ठ एक-दूसरे को वचन-बाणों से बींधते हुए विवाद कर रहे थे—"तुम इस धर्म विनय को नहीं जानते, मैं इस धर्म विनय को जानता हूँ।" तू इस धर्म विनय को कैसे जानेगा ? तू मिथ्या दृष्टि है, मैं सम्यकदृष्टि हूँ मेरा कथन सार्थक है, तेरा कथन निरर्थक है। पूर्व कथनीय बात तूने पीछे कही और पश्चात् कथनीय बात आगे कही। तेरा वाद बिना विचार का उल्टा है। तूने वाद आरम्भ किया पर निगृहीत होगया। इस वाद से बचने के लिए इधर-उधर भटक। यदि इस वाद को समेट सकता है तो समेट। इस प्रकार नातपुत्तीय निगण्ठों में मानों युद्ध ही हो रहा था।

डा० भागचन्द्र जैन भास्कर

एवं मे सुतं एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामगामे। तेन खो पेन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो होति। तस्य कालङ्किकरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिक जाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना अञ्ञमञ्ञं मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति— "न त्वं इमं धम्मविनयं आजानासि, अहं इमं धम्मविनयं आजानामि। किं त्वं धम्मविनयं आजानिस्ससि ? मिच्छापटिपन्नो त्वमसि, अहमस्मि सम्मापटिपन्नो। सहितं मे असहितं ते।

---

1. विशेष देखिये, लेखक के ग्रन्थ Jainism in Buddhist Literature तथा बौद्ध संस्कृति का इतिहास—प्रथम अध्याय (आलोक प्रकाशन, नागपुर)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरे वचनीयं पच्छ अवच पच्छा वचनीयं पुरे अवच। अधिचिण्णं ते विपरावत्तं। आरोपितो ते वादो। निग्गहितोसि, चर वादप्पमोक्खाय; निप्पठेहि वा सचे पहोसी" ति। वथो येव खो मञ्जे निग्गण्ठे सु नातपुत्ति-येसु वत्तति।[2]

आचार्य कालगणना

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद दिगम्बर परम्परानुसार 62 वर्ष में क्रमश तीन केवली और 100 वर्ष में पाँच श्रुतकेवली इस प्रकार हुए।[3]—

केवली

1. गौतम गणधर	—12 वर्ष
2. सुधर्मा स्वामी (लोहार्य)	—12 वर्ष
3. जम्बू स्वामी	—38 वर्ष
	62 वर्ष

श्रुतकेवली

1. विष्णुकुमार (नन्दि)	—14 वर्ष
2. नन्दिमित्र	—16 वर्ष
3. अपराजित	—22 वर्ष
4. गोवर्धन	—19 वर्ष
5. भद्रबाहु	—29 वर्ष
	100 वर्ष

इस प्रकार महावीर निर्वाण के 162 वर्ष (62+100) पर्यन्त केवली और श्रुतकेवली रहे। श्वेताम्बर परम्परानुसार महावीर के जीवन काल में ही 9 गणधरों का निर्वाण हो गया था। मात्र इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्मा शेष रह गये थे। महावीर निर्वाण में उत्तरवर्ती आचार्यों की कालगणना स्थविरावली में इस प्रकार दी गई है—

1. सुधर्मा	—20 वर्ष
2. जम्बू	—44 वर्ष
3. प्रभव	—11 वर्ष
4. शय्यंभव	—23 वर्ष
5. यशोभद्र	—50 वर्ष
6. संभूतिविजय	—8 वर्ष
7. भद्रबाहु	—14 वर्ष
8. स्थूलभद्र	—45
	215 वर्ष

यहाँ यह दृष्टव्य है कि जैन परम्परानुसार हेमचन्द्र ने 'परिशिष्टपर्वन' में भगवान महावीर निर्वाण के 155 वर्ष बाद चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यकाल बताया है। आचार्य हेमचन्द्र अवन्ती राजा पालक के राज्यकाल के 60 वर्षों की गणना को किसी कारणवश भूल गये थे। अर्थात् महावीर के निर्वाण (155+60) 215 वर्ष बाद चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक हुआ होगा।

उक्त आचार्य कालगणना के अनुसार दिगम्बर परम्परा में भगवान महावीर निर्वाण के 12 वर्ष तक गौतम

2. सुत्तपिटक, मज्झिमनिकाय, सामगामसुत्तन्त; दीघनिकाय, पथिकवग्ग. पासादिकसुत्त, संगीतिसुत्त.

3. धवला, भाग 1, पृ० 66, तिलोयपण्णत्ति, 4. 1482-84; जयधवला: भाग 1, पृ० 85, इन्द्रश्रुतावतार 72-78. नन्दिसंघीय प्राकृत पट्टावली—जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 1, किरण 4.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणधर का काल माना है। और उनके बाद उनके उत्तराधिकारी क्रमशः सुधर्मा और जम्बूस्वामी को रखा है पर स्थविरावली में गौतम के स्थान पर सुधर्मा का काल 20 वर्ष (12+8=20) रखा है जबकि कल्पसूत्र पूर्ववर्ती परम्परा को ही स्वीकार कर महावीर निर्वाण के बाद 12 वर्ष गौतम का और 8 वर्ष सुधर्मा का काल निर्धारण करता है। यह कालगणना जो जैसी भी हो, पर दोनों परम्पराएँ भद्रबाहु के कुशल नेतृत्व को सहर्ष स्वीकार करती हुई दिखाई देती हैं। अन्तर यहाँ यह है कि दिगम्बर परम्परा महावीर निर्वाण के 162 वर्ष बाद भद्रबाहु का निर्वाण समय मानती है जबकि श्वेताम्बर परम्परा 170 वर्ष बाद। यहाँ लगभग आठ वर्ष का कोई विशेष अन्तर नहीं। पर समस्या यह है कि इस कालगणना से भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य की समयकालीनता सिद्ध नहीं होती। उन दोनों महापुरुषों के बीच वही प्रसिद्ध 60 वर्ष का अन्तर पड़ता है। अर्थात् यदि भद्रबाहु के समय वीर नि. 162 में 60 वर्ष बढ़ा दिये जायँ तो चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु की समय कालीनता ठीक बन जाती है। अथवा चन्द्रगुप्तमौर्य के काल में से 60 वर्ष पीछे हटा दिये जायें जैसा कि हेमचन्द्राचार्य ने महावीर निर्वाण से 215 वर्ष की परम्परा के स्थान में 155 वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त का राजा होना लिखा है तो दोनों की समयकालीनता बन सकती है।[4]

श्वेताम्बर पपम्परानुसार महावीर निर्वाण के उपरान्त जैन संघ परम्परा इस प्रकार दी जाती है[5]—

आचार्य कालगणना		राजकाल	
1. गौतम	—12 वर्ष	पालक	—60 वर्ष
2. सुधर्मा	— 8 वर्ष		
3. जम्बू	—44 वर्ष		
4. प्रभव	—11 वर्ष	नवनन्द	—155 वर्ष
5. स्वयंभू	—23 वर्ष		
6. यशोभद्र	—50 वर्ष		
7. संभूतिविजय	— 8 वर्ष		
8. भद्रबाहु	—14 वर्ष		
9. स्थूलभद्र	—45 वर्ष		
	215 वर्ष		—215 वर्ष

4. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका, पृ० 342.
5. पट्टावली समुच्चय, पृ० 17.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	215
10. महागिरि	—30 वर्ष
11. सुहस्ति	—46 वर्ष
12. गुणसुन्दर	—32 वर्ष
13. गुणसुन्दर–शेष	—12 वर्ष
14. कालिक	—40 वर्ष
15. स्कन्दिल	—38 वर्ष
16. रेवतीमित्र	—36 वर्ष
17. आर्य भंगु	—20 वर्ष
18. बहुल	
19. श्रीव्रत	
20. स्वाति	
21. हारि	
22. श्वामार्य	=111 वर्ष
23. शाण्डिल्य आदि	
24. भद्रगुप्त	
25. श्रीगुप्त	
26. वज्रस्वामी	
	580 वर्ष

	215
मौर्य वंश	—108 वर्ष
पुष्यमित्र	—30 वर्ष
(1) बलमित्र (2) भानुमित्र	—60 वर्ष
(1) नरवाहन	—40 वर्ष
(2) गर्दभिल्ल	—13 वर्ष
(3) शक	— 4 वर्ष
(1) विक्रमादित्य	—60 वर्ष
(2) धर्मादित्य	—40 वर्ष
(3) भाइल्ल	—11 वर्ष
	581 वर्ष

इस प्रकार महावीर निर्वाण के 581 वर्ष व्यतीत हुए। उसके बाद पुष्यमित्र और नाहड़ का राज्यकाल 24 वर्ष का रहा। तदनन्तर। (581+24=605 वर्ष बाद) शक संवत् की उत्पत्ति हुई। आगे भ० महावीर निर्वाण के 980 वर्ष पूर्ण हो जाने पर महागिरि की परम्परा में उत्पन्न देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने कल्पसूत्र की रचना की।[6]

दिगम्बर परम्परानुसार[7] जिस दिन भ० महावीर का परिनिर्वाण हुआ, उसी दिन गौतम गणधर ने केवलज्ञान प्राप्त किया। गौतम के सिद्ध हो जाने पर सुधर्मा स्वामी केवली हुए। सुधर्मा स्वामी के सिद्ध हो जाने पर जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हुए। इन तीनों केवलियों का काल 62 वर्ष है। उनके बाद नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजिल, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली

6. कल्पसूत्र स्थविरावली.

7. जयधवला, भाग–1, प्रस्तावना, पृ० 23-30. हरिवंशपुराण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए जिनका समय 100 वर्ष है। उनके बाद विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह आचार्य क्रमशः दश पूर्वधारी हुए। उनका काल 183 वर्ष है। उनके बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच आचार्य ग्यारह अंग के धारी हुए। उनका समय 220 वर्ष हैं। उनके बाद भरत क्षेत्र में कोई भी आचार्य ग्यारह अंग का धारी नहीं हुआ। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोह ये चार आचार्य आचारंग के धारी हुए। ये सभी आचार्य शेष ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के एकदेश के ज्ञाता थे। उनका समय 118 वर्ष होता है। इस प्रकार गौतम गणधर से लेकर लोहाचार्य पर्यन्त कुल काल का परिणाम 683 वर्ष हुआ। अर्हद्बली आदि आचार्यों का समय इस काल परिमाण के बाद आता है।

(1) तीन केवली	—62 वर्ष
(2) पाँच श्रुतकेवली	—100 वर्ष
(3) 11 दश पूर्वधारी	—183 वर्ष
(4) पाँच ग्यारह अंग के धारी	—220 वर्ष
(5) चार आचारंग धारी	—118 वर्ष
	कुल—683 वर्ष

नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली कुछ भिन्न है। उसमें उपर्युक्त लोहाचार्य तक का समय कुल 565 वर्ष बताया है। पश्चात् एकांगधारी अर्हद्बलि, माघनन्दिद, धरसेन, भूतबलि, और पुष्पदन्त इन पाँच आचार्यों का काल क्रमशः 28, 21, 19। 30, और 20 वर्ष निर्दिष्ट है। इस दृष्टि से पुष्पदन्त और भूतबली का समय 683 वर्ष के ही अन्तर्गत आ जाता है।[8] इस प्रकार धवला आदि ग्रन्थों में उल्लिखित और नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली में में उद्धृत इन दोनों परम्पराओं में आचार्यों की कालगणना में 118 वर्ष (683–565 = 118) का अन्तर दिखाई देता है। पर यह अन्तर एकादशांगधारी आचारांगधारी आचार्यों में ही है, केवली, श्रुतकेवली और दशपूर्वधारी आचार्यों में नहीं।

आचार्य भद्रबाहु

आचार्य कालगणना की उक्त दोनों परम्पराओं को देखने से यह स्पष्ट है कि जम्बूस्वामी के बाद होनेवाले युगप्रधान आचार्यों में भद्रबाहु ही एक ऐसे आचार्य हुए हैं, जिनके व्यक्तित्व को दोनों परम्पराओं ने एक स्वर में स्वीकार किया है। बीच में होनेवाले प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र और सभूतिविजय आचार्यों के विषय में एकमत नहीं। भद्रबाहु के विषय में भी जो मनभेद हैं वह बहुत अधिक नहीं। दिगम्बर परम्परा भद्रबाहु का कार्यकाल 29 वर्ष मानती है और उनका निर्वाण महावीर निर्वाण के 162 वर्ष बाद स्वीकार करती है पर श्वेताम्बर परम्परानुसार यह समय 170 वर्ष बाद बताया जाता है और उनका कार्यकाल कुल चौदह वर्ष माना जाता है। जो भी हो दोनों परम्पराओं के बीच आठ वर्ष का अन्तराल कोई बहुत अधिक नहीं है।

परम्परानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु निमित्तज्ञानी थे। उनके ही समय संघभेद प्रारम्भ हुआ है। अपने निमित्तज्ञान के बल पर उत्तर में होनेवाले द्वादश वर्षीय दुष्काल का आगमन जानकर भद्रबाहु ने बारह हजार मुनि संघ के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। अपना अन्त निकट जानकर उन्होंने संघ को चोल, पाण्ड्य प्रदेशों की ओर जाने का आदेश दिया और स्वयं श्रमणवेलगोल में ही कालमप्र नामक पहाड़ी पर समाधिमरण पूर्वक देह

8. धवला, आदिपुराण तथा श्रुतावतार आदि ग्रन्थों में भी लोहाचार्य तक के आचार्यों का काल 683 वर्ष ही दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याग किया। इस आशय का छटी शती का एक लेख पुन्नाड़ के उत्तरी भाग में स्थित चन्द्रगिरि पहाड़ी पर उपलब्ध हुआ है। उसके सामने बिन्ध्यगिरि पर चामुण्डराय द्वारा स्थापित गोमटेश्वर बाहुबलि की 57 फीट ऊँची एक भव्य मूर्ति स्थित है। उत्तरभारत में रह जाने वाले साधुओं और क्षुलकों में दुर्भिक्ष जन्य परिस्थितियों के कारण आचार शैथिल्य घर कर गया और उत्तरकाल में यही घटना संघभेद का कारण बनी। परिशिष्टपर्वन के अनुसार भद्रबाहु दुष्काल समाप्त होने के बाद दक्षिण से मगध वापिस हुए और पश्चात् महाप्राण ध्यान करने नेपाल चले गये। इसी बीच जैन साधु संघ ने अनभ्यासवश बिस्मृत श्रुत को किसी प्रकार से स्थूलभद्र के नेतृत्व में एकादश अंगों का संकलन किया और अवशिट द्वादशवें अंग दृष्टिवाद के संकलन के लिए नेपाल में अवस्थित भद्रबाहु के पास अपने कुछ शिष्यों को भेजा उनमें स्थूलभद्र ही वहाँ कुछ समय रुक सके जिन्होंने उसका कुछ यथाशक्य अध्ययन कर पाया। फिर भी दृष्टिवाद का संकलन अवशिष्ट ही रह गया।

देवसेन के भाव संग्रह में भद्रबाहु के स्थान पर शान्ति नामक किसी अन्य आचार्य का उल्लेख है। भट्टारक रत्नन्द ने संभवता देवसेन और हरिषेण की कथाओं को सम्बद्ध करके भद्रबाहुचरित्र लिखा है। प्रथम भद्रबाहु का कोई भी ग्रन्थ प्रामाणिक तौर पर नहीं मिलता। छेद सूत्रों का कर्ता उन्हें अवश्य कहा गया है पर यह कोई सुनिश्चित परम्परा नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने बोहपाहुड़ में अपने गुरू का नाम भद्रबाहु लिखा है और उन भद्रबाहु को गमकगुरू कहा है। कुन्दकुन्द के ये गमकगुरू निश्चित ही श्रुतकेवली भद्रबाहु रहे होंगे।

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णयं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ 61

वारस अंग वियाणं चउदश पुव्वंग विउलवित्थरणं।
सुयाणि भद्दाबाहु गमय गुरू भयवओ जयओ ॥62॥

बोहपाहुड़ की इन दोनों गाथाओं से यह स्पष्ट है है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय तक भद्रबाहु नाम के दो आचार्य हो चुके थे। प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु जिन्हें कुन्दकुन्द ने गमकगुरू कहा है और द्वितीय भद्रबाहु जो कुन्दकुन्द के साक्षात गुरू थे। ये दौनो व्यक्तित्व पृथक् पृथक् हुए हैं अन्यथा कुन्दकुन्द दोनों गाथाओं में भद्रबाहु शब्द का प्रयोग नहीं करते।

आचारंग, सूत्रकृतांग, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प दशाश्रुतस्कन्ध, उत्तराध्यायन, आवश्यक, दशवैकालिक और ऋषिभाषित ग्रन्थों पर किसी अन्य भद्रबाहु नामक विद्वान ने निर्युक्तियाँ लिखी हैं, ऐसी एक परम्परा है। ये निर्युक्तिकार तृतीय भद्रबाहु होना चाहिए जो छेदसूत्रकार भद्रबाहु से भिन्न रहे होंगे। नियुक्तियों में आर्यवज्, आर्यरक्षित, पादलिप्ताचार्य, कालिकाचार्य, शिवभूति आदि अनेक आचार्यों के नामों के उल्लेख मिलते हैं। ये आचार्य निश्चित ही उक्त प्रथम और द्वितीय भद्रबाहु से उत्तरकाल में हुए हैं।

भद्रबाहु के चरित विषयक भद्रबाहुचरित्र के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं—देवार्धिक्षमाश्रमण की स्थबिरावली, भद्रेश्वर सूरी की कहावलि, तित्थोगालि प्रकीर्णक, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक पर हरिभद्रीया वृत्ति तथा हेमचन्द्रसूरी के त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित का परिशिष्टपर्वन्। उनमें उपलब्ध विविध कथाएँ ऐतिहासिक सत्य के अधिक समीप नहीं लगती। मेरुतुंगाचार्य की प्रबन्ध चिन्तामणि और राजेश्वर सूरि का प्रबन्ध कोष भी इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है।

प्रबन्धचिन्ता मणि[9] में एक किंवदन्ति का उल्लेख है कि भद्रबाहु बराहमिहिर के सहोदर थे। ब्राह्मण परिवार

9. प्रबन्धचिन्तामणि, सं. मुनि जिनविजय, सिंघी जैन सीरिज प्रकाश 5, 5-118.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में उत्पन्न ये दोनों भाई कुशल निमित्तवेत्ता थे। इन दोनों भाइयों में भद्रबाहु ने जैन दीक्षा ले ली पर बराह मिहिर ने स्वधर्म परित्याग नहीं किया। बराहमिहिर के पुत्र के सन्दर्भ में भद्रबाहु का निमित्तज्ञान बराहमिहिर की अपेक्षा प्रबल निकलफलतः बराहमिहिर जैनों से द्वेष करने लगे। इस द्वेषभाव के परिणाम स्वरूप बराहमिहिर कालकवलित होने पर व्यन्तर जाति के देव हुए और जैनों पर घनघोर उपसर्ग करने लगे। इन उपसर्गों को दूर करने के लिए भद्रबाहु ने उपसग्गहरस्तोत्र लिखा। प्रबन्धकोष में इससे भिन्न अन्य कथा का उल्लेख है। तदनुसार बराहमिहिर और भद्रबाहु दोनों ने जैन मुनिव्रत ग्रहण किए। इनमें भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वज्ञान के धारी थे। जिन्होंने निर्युक्तियों तथा भद्रबाहुसंहिता जैसे ग्रन्थों की रचना की। परन्तु स्वभाव से उद्धत होने के कारण आचार्य बराहमिहिर को जैन मुनि दीक्षा त्यागकर पुनः ब्राह्मणव्रत धारण करना पड़ा। इसी के पश्चात् उन्होंने वृहत्संहिता लिखी यहा यह उल्लेखनीय है कि प्रबन्धकोष के पूर्ववर्ती अन्य किसी ग्रन्थ में भद्रबाहु को भद्रबाहु संहिताकार अथवा बराहमिहिर का सहोदर नहीं बताया गया। प्रबन्धकोष[10] में भी इसी से मिलती जुलती घटनाका उल्लेख मिलता है।

परम्परानुसार बराहमिहिर के सहोदर भद्रबाहु ने ही उपर्युक्त निर्युक्तियों की रचना की है। जिन ग्रन्थों में श्रुतकेवली भद्रबाहु का चरित्र चित्रण मिलता है। उनमें द्वादशवर्षीय दुष्काल, नेपला, प्रयाण, महाप्राण ध्यान का आराधन, स्थूलभद्र की शिक्षा छेद सूत्रों की रचना आदि का वर्णन तो मिलता है परन्तु बराहमिहिर का भाई होना, निर्युक्तियों, उपसग्गहरस्तोत्र तथा भद्रबाहु संहिता आदि ग्रन्थों की रचना तथा नैमित्तिक होने का कलई उल्लेख नहीं। अतः छेदसूत्रकार भद्रबाहु तथा नियक्तिकार भद्रबाहु दोनों का व्यक्तित्व निश्चित ही पृथक् पृथक् रहा होगा। बराहमिहिर ने अपनी पंच सिद्धांतिका शक संवत् 427 (ई. 505) में समाप्त की थी। अतः तृतीय भद्रबाहु का भी यही समय निश्चित किया जा सकता है।

प्रश्न है, बराहमिहिर के भ्राता भद्रबाहु ने प्रस्तुत भद्रबाहु संहिता की रचना की या नहीं? हमें ऐसा लगता है कि बराहमिहिर की वृहत्संहिता के समकक्ष में कोई अन्य जैन संहिता रखने की दृष्टि से किसी दिगम्बर जैन लेखक ने श्रुतकेवली भद्रबाहु को सर्वाधिक श्रेष्ठ एवं उपयोगी आचार्य समझ और उन्हीं के के नाम पर एक सहिता ग्रन्थ की रचना कर दी। वृहत्संहिता का विशाल सांस्कृतिक कोष, विषद निरूपण उदात्त कवित्व शक्ति, सूक्ष्म निरीक्षण और अगाध विद्वता आदि जैसी विशेषताएँ भद्रबाहु संहिता में दिखाई नहीं देतीं। अतः यह निश्चित है कि भद्रबाहु संहिताकार ने ही वृहत्संहिता का आधार लिया होगा। "भद्रबाहुवचो यथा" आदि शब्दों से भी यही बात स्पष्ट होती है। भद्रबाहु संहिता में छन्दोभंग, व्याकरण दोष, पूर्वापर विरोध, वस्तु वर्णन शैथिल्य', क्रमबद्धता का अभाव, प्रभावहीन निरूपण इत्यादि अनेक अक्षम्य दोष भी उक्त कथन की पुष्टि करते हैं।

स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ. गोपाणी का अनुसरण करते हुए भद्रबाहु संहिता को इधर-उधर का बेढ़ंगा संग्रह मानते हैं जिसे 16-17 वीं शती में संकलित किया गया था। यह ठीक नहीं क्योंकि 16-17 वीं

---

10. प्रबन्धकोश—सं. मुनि जिनविजय सिंघी जैन सीरिज. 1.2
11. भद्रबाहु संहिता, सं.—ए. एस. गोपाणी, पुष्पिका, पृ. 70
12. वही, प्राक्कथन, पृ. 3–4

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शती तक का सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक कोई प्रमाण इसमें नहीं मिलता जिसके आधार पर मुख्तार साहब के मत को समर्थन दिया जा सके। मुनि जिन-विजय ने यह समय 11-12वीं शती निश्चित किया हैं। यह मत कहीं अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। वैसे ग्रन्थ के अन्त प्रमाणों के आधार पर इस समय को भी एक दो शताब्दी आगे किया जा सकता है।

कुछेक वर्षों पूर्व भारतीय ज्ञानपीठ से डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित भद्रबाहु संहिता का प्रकाशन हुआ था। उसकी प्रस्तावना में डॉ. शास्त्री ने एक स्थान पर भद्रबाहु को बराहमिहिर से प्रभावित बताया। दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा कि कुछ विषयों का वर्णन बराहमिहिर से भी अधिक भद्रबाहु संहिता में मिलता है और यही नवीनता प्राचीनता की पोषिका है। फलतः भद्रबाहु बराहमिहिर के पूर्ववर्ती हो सकते हैं और अन्त में डॉ. शास्त्री ने इस कृति का समय 8-9 वीं शती भी बता दिया। इन तीन मतों में कौन-सा मत उनका माना जाय, निश्चित नहीं किया जा सकता। लगता है, वे स्वयं इस समय की परिधि को निश्चित नहीं कर पाये।

इस सन्दर्भ में मेरा अपना मत है कि भद्रबाहु 11-12 वीं शती के होना चाहिए, जो न तो श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं, न कुन्द कुन्द के साक्षात गुरु और न ही निर्युक्तिकार भद्रबाहु। इनके अतिरिक्त अन्य कोई चतुर्थ भद्रबाहु ही होना चाहिए, क्योंकि निर्युक्तिकार भद्रबाहु की भाषा प्रायः शुद्ध और समीचीन जान पड़ती है जबकि प्रस्तुत ग्रन्थ इस दृष्टि से अस्पष्ट तथा व्याकरण दोषों से परिपूर्ण है।

भद्रबाहु संहिता की रचना 12-13 वीं शती की है। इस मत के समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(1) चातुर्वर्ण्य व्यवस्था तथा वर्णसंकर का उल्लेख भ० स० में अनेक स्थानों पर विकसित अवस्था में हुआ है। जैन संस्कृति में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था जिनसेन द्वारा की गई जिसका परिपोषक रूप सोमदेव के ग्रन्थों में मिलता है।

(2) अरिष्टों के वर्णन के प्रसंग में दुर्गाचार्य और एलाचार्य का उल्लेख है। दुर्गाचार्य का ग्रन्थ रिष्ट-समुच्चय का रचनाकाल 1032 ई. है।

(3) चन्द्र, वरुण, रुद्र, इन्द्र, बलदेव, प्रद्युम्न, सूर्य, लक्ष्मी, भद्रकाली, इन्द्राणी. धन्वन्तरि, परशुराम, रामचन्द्र' तुलसा, गरुड़, भूत, अर्हन्त, वरुण, रुद्र, सूर्य शुक्र, द्रोण, इन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, विश्वकर्मा, प्रजापति, पार्वती, रति आदि की प्रतिमाओं का वर्णन इस ग्रन्थ में है। इन सभी के रूप 12वीं शती तक विकसित हो चुके थे।

(4) भद्रबाहु वचो यथा (ई० 64), यथावदनुपूर्वशः (9 1) आदि जैसे वाक्यों का प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भ. सं. की रचना श्रुतकेवली भद्रबाहु ने तो नहीं की। उनके अनुसार अन्य किसी भद्रबाहु ने की हो अथवा उनके नाम पर किसी यद्वा तद्वा विद्वान ने।

(5) भौगोलिक और राजनीतिक वर्णन।

(6) वृहत्संहिता की अपेक्षा विषय वर्णन में नवीनता।

इन सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि भद्रबाहु संहिता की रचना 11-12 वीं शती से पूर्ववर्ती नहीं होना चाहिए। मूल ग्रन्थ प्राकृत में रहा हो यह भी समीचीन नहीं जान पड़ता। बौद्ध साहित्य की श्रेणी में इसे नहीं रखा जा सकता क्योंकि प्राकृत के रूप इतने अधिक भ० सं० में नहीं मिलते। अतः इस ग्रन्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की उपरितम सीमा 12–13वीं शती मानी जानी चाहिए ।

संघ भेद

प्राय: हर तीर्थंकर अथवा महापुरुष के परिनिर्वृत अथवा देहावसान हो जाने के बाद उसके संघ अथवा अनुयायियों में मतभेद पैदा हो जाते हैं । इस मतभेद के मूल कारण आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के परिवर्तित रूप हुआ करते हैं। मतभेद की गोद में विकास निहित होता है जिसे जागृति का प्रतीक कहा जा सकता है । पार्श्वनाथ और महावीर के संघ में भी उनके निर्वाण में बाद मतभेद उत्पन्न होना आरम्भ हो गया था । उस मतभेद के पीछे भी आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के बदलते हुए रूप थे ।

इस प्रकार महावीर के निर्वाण के बाद उनका संघ अन्तिम रूप में दो भागों में विभक्त हो गया— दिगम्बर और श्वेताम्बर । संघभेद के संदर्भ में दोनों सम्प्रदायों में अपनी अपनी परम्पराएं हैं । दिगम्बर सम्प्रदाय पूर्णत: अचेलत्वय को स्वीकार करता है पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय सवस्त्र अवस्था को भी मान्यता प्रदान करता है। दोनों परम्पराओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि मतभेद का मूल कारण वस्त्र था।

पालि साहित्य से पता चलता है कि निगण्ठ नातपुत्त के परिवर्तन के बाद ही संघभेद के बीज प्रारम्भ हो चुके थे। आनन्द ने बुद्ध को चुन्द का समाचार दिया था कि महावीर के निर्वाण के उपरान्त उनके अनुयायियों में परस्पर विषाद और कलह हो रहा है। ये एक दूसरे की बातों को गलत सिद्ध कर रहे हैं।[13] बुध्द ने इसका कारण बताया कि निगण्ठों के तीर्थंकर निगण्टनातपुत्त न तो सर्वज्ञ हैं और न टीक तरह से उन्होंने धर्मदेशना दी है।[14] अटठ्कथा में इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि निगण्ठनातपुत्त ने अपने अपने सिद्धांतों की निरर्थकता को समझ कर अपने अनुयायियों से कहा था कि वे बुध्द के सिद्धांतों को स्वीकार करलें। आगे वहां बताया गया है कि उन्होंने अन्तिम समय में एक शिष्य को शाश्वतवाद की शिक्षा दी और दूसरों को उच्छेदवाद की। फलतः वे दोनों परस्पर संघर्ष करने लगे। संघभेद का मूल कारण यही है।[15]

उक्त उध्दरण कहां तक सही है, कहा नहीं जा सकता पर यह अवश्य है कि शासन भेद निगण्ठनातपुत्त के परिनिर्वाण के बाद किसी न किसी अंश में प्रारम्भ हो गया था।

इस शासनभेद को श्वेताम्बर परम्परा में निन्हव कहा गया है। उनकी संख्या सात बताई गयी है। जामालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, विश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल। निन्हव का तात्पर्य है--किसी विशेष दृष्टिकोण से आगमिक परम्परा से विपरीत अर्थ प्रस्तुत करनेवाला। यह यहां दृष्टव्य है कि प्रत्येक निन्हव जैनागमिक परम्परा के किसी एक पक्ष को अस्वीकार करता है और शेष पक्षों को स्वीकार करता है अतः वह जैन घर्म के ही अन्तर्गत अपना एक पृथक मत स्थापित करता है। ये सातों निन्हव संक्षेपतः इस प्रकार हैं।

---

13. माज्झिमनिकाय भा. 2. पृ.–243 (रो.); दीघनिकाय भा. 3- पृ. 117, 120 (रो.)
14. दीघनिकाय भा. 3, पृ. 121.
15. दीघनिकाय : अट्ठकथा भा–3, पृ. 996

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. प्रथम निन्हव–(जामालि); बहुरत सिद्धान्त :

जामालि भ० महावीर का शिष्य था। श्रावस्ती में उसने अपने शिष्य से एक बार बिस्तर लगाने के लिये कहा। शिष्य ने कहा—बिस्तर लग गये। जामालि ने जाकर जब देखा कि अभी बिस्तर लग रहा है तो उसे महावीर का कहा हुआ "कियमाणं कृत", (किया जाने वाला कर दिया गया) वचन असत्य प्रतीत हुआ। तब उसने उस सिध्दांत के स्थान पर बरहुत सिद्धांत की स्थापना की जिसका तात्पर्य है कि कोई भी क्रिया एक समय में न होकर अनेक समय में होती है मृदानयन आदि से घट का प्रारम्भ होता है पर घट तो अन्त में ही दिखाई देता है। यह ऋजु सूत्रनय का विषय है जिसे जामालि ने नही समझा।[16]

२. द्वितीय निन्हव–(तिष्यगुप्त); जीवप्रादेशिक सिद्धांत :

तिष्यगुप्त वसु का शिष्य था। एक समय ऋषभपुर में आत्म प्रवाद पर चर्चा चल रही थी। प्रश्न था—क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कह सकते हैं। भगवान महावीर ने उत्तर दिया—नहीं।

सम्पूर्ण प्रदेश युक्त होने पर ही 'जीव' कहा जायगा तब तिष्यगुप्त ने कहा कि जिस प्रदेश के कारण वह जीव नहीं कहलायेगा। उसी चरम प्रदेश को जीव क्यों नहीं कहा जाता, यही उसका जीव प्रादेशिक मत है। एवंभूतनय न समझने के कारण ही उसने यह मत स्थापित किया।[17]

३. तृतीय निन्हव–(आषाढ़ आचार्य); अव्यक्त मत

श्वेताविका नगरी में आषाढ़ नामक एक आचार्य थे। वे अकस्मात मरकर देव हुए और पुनः मृत शरीर में आकर उपदेश देने लगे। योग साधना समाप्त होने पर उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—"मैंने असंयमी होते हुए भी आप लोगों से आज तक बन्दना कराई श्रमणो, मुझे क्षमा करना।" इतना कहकर वे चले गये तब शिष्य कहने लगे—कौन साधु बन्दनीय है, कौन नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। अतः किसी की भी वन्दना नही करनी चाहिए। व्यवहार नय को न समझने के कारण यह निन्हव पैदा हुआ।[18]

४. चतुर्थ निन्हव–(कौण्डिण्य); सामुच्छेदक :

कौण्डिण्य का शिष्य अश्वमित्र मिथला नगरी में अनुप्रवाद नामक पूर्व का अध्ययन कर रहा था। उसमें एक स्थान पर प्रसंग आया कि वर्तमान कालीन नारक विच्छिन्न हो जायेंगे द्वितीयादि समय के नारक भी विच्छिन्न हो जायेगे। अतः उसके मन में आया कि उत्पन्न होते ही जब जीव नष्ट हो जाता है तो कर्म का फल कब भोगता है। यह क्षणभंवाद पर्यायनय को न मानने के कारण उत्पन्न हुआ। इसे समुच्छेदक नाम दिया गया हैं। इसका अर्थ है—जन्म होते ही अत्यन्त विनाश हो जाता हैं।[19]

५. पञ्चम निन्हव-द्विक्रिया (गंग)

धनगुप्त का शिष्य गंग एक बार शरदऋतु में उलुकातीर नामक नगर से आचार्य की वन्दना करने

---

16. विशेषावश्यक भाष्य. गाथा 2308–32.
17. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा–2333–2355.
18. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा–2356–2388.
19. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा,–2389–2433.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए निकला मार्ग में उसने गर्मी और ठण्ड दोनों का अनुभव एक साथ किया। तब उसने यह मत प्रतिपादित किया कि एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव हो सकता है। नदी में चलने पर ऊपर की सूर्य उष्णता और नदी की शीतलता, दोनों का अनुभव होता है। गंग ने अपने द्विक्रिया मत की स्थापना करली। तथ्य यह यह है कि मन की सूक्ष्मता के कारण यह भान नहीं होता क्रिया का वेदन तो क्रमशः ही होता है।

६. षष्ठ निन्हव-त्रैराशिक (रोहगुप्त)

एक बार अन्तरंजिका नगरी में रोहगुप्त अपने गुरू की वन्दना करने जा रहा था। मार्ग में उसे अनेक प्रवादी मिले जिन्हें उसने पराजित किया। अपने वाद स्थापन काल में उसने जीव और अजीव के साथ ही नोजीव की भी स्थापना की गृहकिकिलादि की उसने 'नोजीव' बतलाया। समाभिरूढ नय को न समझने के कारण उसने इस मत की स्थापना की इसे त्रैराशिक कहा गया है।

७. सप्तम निन्हव-अबध्द (गोष्ठामाहिल)

एक बार दशपुर नगर में गोष्ठामाहिल कर्मप्रवाद पढ़ रहा था उसमें आया कि कर्म केवल जीव का स्पर्श करके अलग हो जाता हैं। इस पर उसने सिद्धांन्त बनाया कि जीव और कर्म अबद्ध रहते हैं। उनका बन्ध ही नहीं होता व्यवहारनय को न समझने के कारण ही गोष्ठामाहिल ने यह मत प्रस्थापित किया।

८. अष्टम निन्हव-बोटिक- (शिवभूति)

रथवीरपुर नामक नगर में शिवभूति नामक साधु रहता था। वहां के राजा ने एक बार एक बहुमूल्य रत्न कंबल भेंट किया। शिवभूति के गुरू आर्यकृष्ण ने कहा कि साधु के मार्ग में अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले इस कम्बल को ग्रहण करना उचित नहीं। पर शिवभूति को उस कम्बल में आसक्ति उत्पन्न हो गई थी। यह समझकर आर्यकृष्ण ने शिवभूति की अनुपस्थिति में उस के पादप्रोच्छनक बना दिये। यह देखकर शिवभूति को कषाय उत्पन्न हो गई। एक समय आर्यकृष्ण जिनकाल्पियों का वर्णन कर रहे थे और कह रहे थे कि उपयुक्त संहनन आदि के अभाव होने से उसका पालन सम्भव नहीं। शिवभूति ने कहा—"मेरे रहते हुए कैसे हो सकता है। यह कह कर अभिनिवेशवश निर्वस्त्र होकर यह मत स्थापित किया कि वस्त्र कषाय का कारण होने से परिग्रह रूप है अतः त्याज्य है।

ये निन्हव किसी अभिनिवेश के कारण आगमिक परम्परा से विपरीत अर्थ प्रस्तुत करने वाले होते हैं। प्रथम निन्हव महावीर के जीवन काल में ही उनकी ज्ञानोत्पत्ति के चौदह वर्ष बाद हुआ। इसके दो वर्ष बाद ही द्वितीय निन्हव हुआ। शेष निन्हव महावीर के के निर्वाण होने पर क्रमशः 214,220, 218, 544, 584, ओर 609 वर्ष वाद उत्पन्न हुए। सिद्धान्त भेद से प्रथम सात निन्हवों का उल्लेख मिलता है। पर जिनभद्र ने विशेष्यावश्यक भाष्य में एक और निन्हव जोड़ कर उनकी संख्या 8 करदी। इसी अष्टम निन्हव को दिगम्बर कहा गया है। आश्चर्य की बात है, इन निन्हवों के विषय में दिगम्बर साहित्य बिलकुल मौन है। प्रथम सात निन्हवों के कारण किसी सम्प्रदाय विशेष की उत्पत्ति नहीं हुई। ठाणांङ्ग सूत्र (587) में केवल सात निन्हवों का उल्लेख हैं पर आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा-779–783) में स्थान काल का उल्लेख करते समय आठ निन्हवों का और उपसंहार करते समय मात्र सात निन्हवो का निर्देश किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ही सर्वप्रथम

20. एवं एए कहिआ ओसप्पिणिए उ निण्हया सन्त।
वीर वरस्स पवयणे संसाणं पवयणे नत्थि ॥784॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अष्टम निन्हव के रूप में दिगम्बर मत की उत्पत्ति की कल्पना की हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि उपयुक्त संहननादि का अभाव होने से जिनकल्प का धारण करना अब शक्य नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति अर्वाचीन नहीं, प्राचीनतर है। ऋषभदेव ने जिनकल्प की ही स्थापना की थी और वह अविच्छिन्नरूप से श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार भी जम्बूस्वामी तक चला आया। बाद में उसका विच्छेद हुआ। शिवभूति ने उसकी पुन: स्थापना की। अत: जिनकल्प को निन्हव कैसे कहा जा सकता है! और फिर बोटिक का सम्बन्ध दिगम्बर सम्प्रदाय से कैसे लिया जाय, इसका स्पष्टीकरण श्वेताम्बर साहित्य में नहीं मिलता। सम्भव है, बोटिक नाम का कोई पृथक सम्प्रदाय ही रहा होगा जिसका अधिक समय तक अस्तित्व नहीं रह सका।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति

दिगम्बर साहित्य में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय में जो कथानक मिलते हैं वे इस प्रकार हैं—

हरिषेण के बृहत्कथाकोश (शक संवत् 853) में यह उल्लेख मिलता है कि गोवर्धन के शिष्य श्रुत-केवली भद्रबाहु ने उज्जयिनी में द्वादशवर्षीय दुष्काल को निकट भविष्य में जानकर मुनि विशाखाचार्य (चन्द्र-गुप्त मौर्य) के नेतृत्व में मुनिसंघ को दक्षिणापथवर्ती पुन्नार नगर भेज दिया और स्वयं भाद्रपद देश में जाकर समाधिमरण पूर्वक शरीर त्याग दिया। इधर दुष्काल की समाप्ति हो जाने पर विशाखाचार्य ससंघ वापस आ गये। संघ में से रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य सिन्धु देश की ओर चले गये थे। वहाँ दुर्भिक्ष पीड़ितों के कारण लोग रात्रि में भोजन करते थे। फलत: मुनियों–निर्ग्रन्थों को भी रात्रि भोजन प्रारम्भ करना पड़ा। एक बार अंधकार में भिक्षा की खोज में निकले निर्ग्रन्थ को देखकर भय से एक गर्भिणी का गर्भपात हो गया। इस घटना के मूल कारण को दूर करने के लिये श्रावकों ने मुनियों को "अर्धफलक" (अर्धवस्त्र-खण्ड) धारण करने के लिये निवेदन किया। सुभिक्ष हो जाने पर रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य ने तो मुनिव्रत धारण कर लिये पर जिन्हें वह अनुकूल नहीं लगा, उन्होंने जिनकल्प के स्थान पर अर्धफलक सम्प्रदाय की स्थापना कर ली। उत्तरकाल में इसी अर्धफलक सम्प्रदाय से काम्बल सम्प्रदाय, फिर यापनीय संघ और बाद में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई।

देवसेन के 'दर्शनसार'[21] (वि. सं. 999) में एतत् सम्बन्धी कथा इस प्रकार मिलती है—

विक्रमाधिपति की मृत्यु के 136 वर्ष बाद सौराष्ट देश के बलभीपुर में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई। इस संघ की उत्पत्ति में मूल कारण भद्रबाहुगणि के आचार्य शान्ति के शिष्य जिनचन्द्र नामक एक शिथि-लाचारी साधु था। उसने स्त्री-मोक्ष, कवलाहार, सव-स्त्र मुक्ति, महावीर का गर्भ परिवर्तन आदि जैसे मत प्रस्थापित किये थे।

दर्शनसार में व्यक्त ये मत नि सन्देह श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। उनके संस्थापक तो नहीं, प्रबल पोषक कोई जिनचन्द्र नामक आचार्य हुए होंगे। पर चूंकि आचार्य शान्ति और उनके शिष्य जिनचन्द्र का अस्तित्व देवसेन के पूर्व नहीं मिलता अत: ये जिनचन्द्र जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (सप्तम शती) होना चाहिये। उन्होंने विशेषावश्यक भाष्य में उक्त मतों का भरपूर समर्थन किया है।

---

21. दर्शनसार–11–14.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक अन्य देवसेन ने भावसंग्रह में भी श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति इसी प्रकार बतायी है। थोड़ा-सा जो भी अन्तर है, वह यह है कि यहाँ शान्ति नामक आचार्य सौराष्ट्र देशीय बलभी नगर अपने शिष्यों सहित पहुंचे पर वहाँ भी दुष्काल का प्रकोप हो गया। फलत: साधु-वर्ग यथेच्छ भोजनदि करने लगा। दुष्काल समाप्त हो जाने पर शान्ति आचार्य ने उनसे इस वृत्ति को छोड़ने के लिए कहा पर उसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। तब आचार्य ने उन्हें वहुत समझाया। उनकी बात पर किसी शिष्य को क्रोध आया और उसने गुरू को अपने दीर्घ दण्ड से सिर पर प्रहार कर उन्हें स्वर्ग लोक पहूँचाया और स्वयं संघ का नेता बन गया। उसी ने सवस्त्र मुक्ति का उपदेश दिया और श्वेताम्बर संघ की स्थापना की।[22]

भट्टारक रत्ननन्दि का एक भद्रबाहुचरित्र मिलता है, जिसमें उन्होंने कुछ परिवर्तन के साथ इस घटना का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि दुर्भिक्ष पड़ने पर भद्रबाहु ससंघ दक्षिण गये। पर रामल्य, स्थूलाचार्य आदि मुनि उज्जयिनी में ही रह गये। कालान्तर में संघ में व्याप्त शिथिलाचार्य को छोड़ने के लिए जब स्थूलाचार्य ने मार डाला। उन शिथिलाचारी साधुओं से ही बाद में अर्ध फलक और श्वेताम्बर संघ की स्थापना हुई।

इन कथानकों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भद्रबाहु की परम्परा दिगम्बर सम्प्रदाय से और स्थूलभद्र की परंपरा श्वेताम्बर सम्प्रदाय से जुड़ी हुई है। यह श्वेताम्बर सम्प्रदाय अर्धफलक संघ का ही विकसित रूप है।

अर्धफलक सम्प्रदाय का यह रूप मथुरा कंकाली टीले से प्राप्त शिलापट्ट में अंकित एक जैन साधु की प्रतिकृति में दिखाई देता है। वहाँ एक साधु 'कण्ह' बायें हाथ से वस्त्रखण्ड के मध्य भाग को पकड़कर नग्नता को छिपाने का यत्न कर रहा है। हरिभद्र के सम्बोधप्रकरण से भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के इस पूर्व रूप पर प्रकाश पड़ता है। कुछ समय बाद उसी वस्त्र को कमर में धागे से बांध दिया जाने लगा। यह रूप मथुरा में प्राप्त एक आयागपट्ट पर उट्टंकित रूप से मिलता-जुलता है। इस विकास का समय प्रथम शब्तादि के आस पास माना जा सकता है।

ऊपर के कथानकों से यह भी स्पष्ट है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के बीच विभेदक रेखा खींचने का उत्तरदायित्व वस्त्र की अस्वीकृति और स्वीकृति पर है। उत्तराध्ययन में केशी और गौतम के बीच हुए संवाद का उल्लेख है। केशी पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी हैं और गौतम महावीर परम्परा के। पार्श्वनाथ ने सन्तरुत्तर (सान्तरोत्तर) का उपदेश दिया और महावीर ने अचेलकता का। इन दोनों शब्दों के अर्थ की ओर हमारा ध्यान श्री० पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने आकर्षित किया है। उन्होंने लिखा है कि उत्तराध्ययन की टीकाओं में सान्तरोत्तर का अर्थ महामूल्यवान् और अपरिमित वस्त्र (सान्तर-प्रमाण और वर्ग में विशिष्ट, तथा उत्तर-प्रधान) किया गया है और उसी के अनुरूप अचेल का अर्थ वस्त्रभाव के स्थान में क्रमश: कुत्सितचेल, अल्पचेल, और अमूल्यचेल मिलता है। किन्तु आचारंग सूत्र 209 में आये 'संतरुत्तर' शब्द का अर्थ दृष्टव्य है। वहाँ कहा गया है कि तीन वस्त्रधारी साधु का कर्तव्य है कि वह जब शीत ऋतु व्यतीत हो जाय जाय और ग्रीष्म ऋतु आ जाये और वस्त्र यदि जीर्ण न हुए हों तो कहीं रख दे अथवा सान्तरोत्तर हो जाये। शीलांक ने सान्तरोत्तर का अर्थ किया है—सान्तर है उत्तर ओढ़ना जिसका अर्थात्, जो आवश्यकता होने पर

---

2 भावसंग्रह–गा. 53–70,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्त्र का उपयोग कर लेता, है अन्यथा उसे पास रखे रहता है।[23]

केशी और गौतम के संवाद[24] में आये हुए सान्तरोत्तर का तात्पर्य भी यही है कि पार्श्वनाथ परम्परा के साधु अचेलक तो थे पर आवश्यकता पड़ने पर वे वस्त्र भी धारण कर लेते थे जबकि महावीर के धर्म में साधु पूर्णत: अचेलक अवस्था में रहता था। साधु सचेलक वही हो सकता था जो अचेलक होने में असमर्थ रहता था। पालि साहित्य में निग्गण्ठ साधुओं को जो 'एकसाटका' कहा गया है वह भी हमारे मत का पोषण करता है।[25]

पार्श्वनाथ परम्परा में महावीर के समय तक उसमें चारित्रिक पतन हो गया था। इसलिए उस परम्परा के अनुयायी साधुओं को 'पासावज्जिय (पार्श्वापत्यीय) अथवा 'पासज्ज' (पार्श्वस्थ) कहा जाने लगा। पासज्ज का तात्पर्य है कर्म से बँधा हुआ साधु। यह शब्द इतना अधिक प्रचलित हो गया कि चरित्र से पतित साधु का वह पर्यायवाची बन गया।[26] सूत्रकृतांग में पार्श्वस्थ साधुओं को अनार्य, बाल, जिनशासन से विमुख एवं स्त्रियों में आसक्त कहा गया है।[27] भगवती आराधना (गाथा 1300) आदि में भी पार्श्वस्थ साधुओं का चरित्र चित्रण इसी प्रकार किया गया है। इसका मूल कारण है कि पार्श्व परम्परा में ब्रह्मचर्य व्रत को अपरिग्रह व्रत में सम्मिलित कर दिया गया था।

'पञ्चाशक विवरण' में कहा गया है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों के अनुयायी साधु स्वभावत: कठिन और वक्रजड़ होते थे। इसलिए उन्हें अचेलावस्था का पालन करना आवश्यक बताया गया जबकि बीच के बाईस तीर्थ करों के अनुयायी साधु स्वभावत: सरल और बुद्धिमान थे, अत: उन्हें आवश्यकता पड़ने पर सचेलावस्था को भी विहित बना दिया गया।[28]

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी साधु को अपरिग्रही होना आवश्यक बताया गया है।[29] आचारंगसूत्र एतदर्थ द्रष्टव्य है। उसमें अचेलक साधु की प्रशंसा की गयी है और उसे वस्त्रादि से निश्चिन्त बताया गया है।[30] ठाणांग (सूत्र 171) में वस्त्र धारण करने के तीन कारणों का उल्लेख मिलता है—लज्जा निवारण, ग्लानि निवारण और परिषह निवारण। आगे पाँच कारणों से अचेलावस्था की प्रशंसा की गई है—प्रतिलेखना की अल्पता, लाघवता, विश्वस्तरूपता, तपशीलता और इन्द्रिय निग्रहता।[31] और भी अन्य आगमों में अचेलावस्था को प्रशस्त माना गया है। मात्र असमर्थता होने पर ही वस्त्र ग्रहण करने की अनुज्ञा दी गई है।

---

23. जैन साहित्य का इतिहास: पूर्व पीठिका—397—98.
24. उत्तराध्ययन, 23-29-33.
25. तत्रिदं भन्ते, पूरणेन कस्सपेन लोहिताभिजातिपञ्ञाता, निग्गण्ठा एकसाटका, अगुत्तरनिकाय 6-6-3.
26. सूत्रकृतांग—1-1-2-5 वृत्ति;
27. सूत्रकृतांग—3-4-3 वृत्ति.
28. पञ्चाशक विवरण 17-8-10;
29. आचारंग—5,150-152.
30. आचारंगसूत्र—182.
31. ठाणांगसूत्र—5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालान्तर में वस्त्रग्रहण की प्रवृत्ति बढ़ती गई और उसी के साथ आगमों की टीकाओं और चूर्णियों आदि में अचेलकता के अर्थ में परिवर्तन किया जाने लगा। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के काल तक स्थिति बिलकुल बदल गई। फलतः उन्हें आचार के दो रूप करना पड़े--जिनकल्प और स्थविरकल्प। जिनकल्परूप अचेलकता का प्रतिपादक बना तथा स्थविरकल्प सचेलकता का। जम्बूस्वामी के मोक्ष जाने के बाद जिनकल्प को विच्छिन्न बता दिया गया। वृहत्कल्पसूत्र और विशेषावश्यक भाष्य (गाथा 2598–2601) में इसका विशेष विवेचन मिलता है। वहाँ अचेल के दो भेद कर दिये गये हैं—संताचेल और असंताचेल। संताचेल (वस्त्र रहते हुए भी अचेल) जिनकल्पी आदि सभी प्रकार के साधु कहलाते हैं और असन्ताचेल के अन्तर्गत मात्र तीर्थंकर आते हैं।

उत्तरकाल में इस प्रकार के अर्थ करने की प्रवृत्ति और भी बढ़ती गई। हरिभद्रसूरि ने दशवैकालिक सूत्र में आये शब्द नग्न का अर्थ उपचरितनग्न और निरूपचरितनग्न किया है। कुचेलवान् साधु को उपचरितनग्न और जिनकल्पी साधु को निरूपचरित नग्न कहा गया है।[32] बाद में अचेल का अर्थ अल्पमूल्यचेल भी किया गया है। सिद्धसेनगणि ने भी दसकल्पों में आये आचेलक्य कल्प का अर्थ यही किया गया है।[33] धीरे-धीरे साधु बस्तियों में रहने लगे, कत्विवस्त्र के स्थान पर चुलपट्ट का प्रयोग होने लगा और उपकरणों में वृध्दि हो गई। लगभग आठवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह विकास हो चुका था।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शिथिलाचार की पृष्ठभूमि में संघभेद के बीज जम्बूस्वामी के बाद से ही प्रारम्भ हो गये थे जो भद्रबाहु के काल में दुर्भिक्ष की समाप्ति पर कुछ अधिक उभरकर सामने आये। 'परिशिष्ट पर्वन' (9-55-76) तथा तित्थोगाली पइन्नय (गा० 730-33) के अनुसार भी पाटलिपुत्र में हुई प्रथम वाचना काल में संघभेद प्रारम्भ हो गया था। यह वाचना भद्रबाहु की अनुपस्थिति में हुई थी। इसी के फलस्वरूप दोनों परम्पराओं की गुर्वावलियों में भी अन्तर आ गया। यह स्वाभाविक भी था। उत्तरकाल में इस अन्तर ने आचार-विचार क्षेत्र को भी प्रभावित किया और देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के काल तक दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परायें सदैव के लिये एक-दूसरे से पृथक हो गई।

भद्रबाहु के समय तक बौद्धधर्म के मध्यममार्ग का प्रचार अपने पूरे जोर पर था। जैन संघ के आचार शैथिल्य में वह विशेष कारण बना। विचारों में भी परिवर्तन हुआ जो विभिन्न वाचनाओं के बीच हुए संवादों से ज्ञात होती है। यहाँ वस्त्र और पात्र के रखने के तरह-तरह से विधान बने। महावीर भगवान के साथ देवदूस्य वस्त्र की कल्पना का सम्बन्ध भी ऐसे ही विधानों से रहा होगा। इतना ही नहीं, प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों का धर्म अचेलक कहा गया तथा शेष बाईस तीर्थंकरों को अचेलक और सचेलक दोनों माना गया।

आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य. पच्छिमस्स जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं होइ सचेलो अचेलो य॥ पंचाशक

आचारांग सूत्र की टीका में शीलांक ने अचेलक का जिनकल्प का और सचेलक को स्थविरकल्प का आधार बताया है। इस मत में दृढ़ता लाने के लिये एषणा समिति में वस्त्र और पात्र एषणा को सम्मिलित किया

32. दशवैकालिक सूत्र, गाथा–64 चूर्णि
33. तत्वार्थसूत्र–9-9, व्याख्या,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया। पार्श्वनाथ की परम्परा को सचेल बताने के लिए केशी-गौतम संवाद को जोड़ा गया। स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति, केवलिमुक्ति आदि सम्बन्धी वाक्य भी अन्तर्मुक्त कर दिये गये। जिनदासगणि क्षमाश्रमण ने तो अन्तर्मुक्त के लोप की भी बात कर दी। (विशेषावश्यक अस्य, 2593 गा.) पं. बेचरदास दोसी ने ऐसे ही कथनों या उल्लेखों की भर्त्सना की है।(जैन साहित्यमां विकार थलाथयेली, हति, पृ. 103) इसी प्रकार की प्रवृत्तियोंने संघ और सम्प्रदाय को जन्म दिया।

दिगम्बर संघ और सम्प्रदाय

दिगम्बर परम्परा संघभेद के बाद अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो गई। वीर निर्वाण से 683 वर्ष तक चली आयी लोहाचार्य तक की परम्परा में गण, कुल, संघ आदि की स्थापना नहीं हुई थी। उसके बाद अंग पूर्व के एकदेश के ज्ञाताचार आरातीय मुनि हुए। उनमें आचाय शिवगुप्त अथवा अर्हद्बली से नवीन संघ और गणों की उत्पत्ति हुई। महावीर के निर्वाण के लगभग इन 700 वर्षों में आचार-विचार में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। समाज का आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक ढांचा बदल चुका था। शिथिलाचार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी थी। इसी कारण नये-नये संघ और सम्प्रदाय खड़े हो गये।

कदम्ब एवं गंगवंशी लेखों से पता चलता है कि समूचे दिगम्बर संघ को निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ कहा जाता था। कालान्तर में जब शिथिलाचार बढ़ने लगा तो उसकी विशुद्धि के लिए नये-नये आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। भट्टारक युगीन संघ तो इस शिथिलाचार का बहुत अधिक शिकार हुआ। फलस्वरूप विभिन्न संघ-सम्प्रदाय बन गये। इन संघ सम्प्रदायों में मतभेद का विशेष आधार आचार-प्रक्रिया थी। विचारों में भेद अधिक नहीं आ पाया। वनों में निवास करने वाले मुनि नगर की ओर आने लगे, मन्दिरों और चैत्यों में निवास करने लगे। लगभग 10 वीं शताब्दी तक यह प्रवत्ति अधिक दृढ़ हो गई। विशुद्ध आचारवान् भिक्षुओं ने इसका विरोध किया और शिथिलाचारी साधुओं की भर्त्सना कर उन्हें जैनाभासी और मिथ्यात्वी जैसे सम्बोधनों से सम्बोधित किया। इन सभी कारणों से दिगम्बर सम्प्रदाय में अनेक संघों की स्थापना हो गई। देवसेन ने दर्शनसार में श्वेताम्बर, यापनीय, द्रविड़, काष्ठा संघ और माथुर संघ को जैनाभास बताया है।

मूलसघ

शिथिलाचारी साधुओं के विरोध में विशुद्धतावादी साधुओं ने जिस आन्दोलन को चलाया उसे मूल सघ कहा गया है। मूल संघ के स्थापकों ने यह नाम देकर अपना सीधा सम्बन्ध महावीर से बताने का प्रयत्न किया और शेष संघ को अमूल्य बता दिया। इस संघ की उत्पत्ति का स्थान और समय अभी तक निश्चित नहीं हो पाया पर यह निश्चित है कि इस संघ का विशेष सम्बन्ध कुन्दकुन्द से रहा है। साधारणतः कुन्दकुन्द का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना गया है। कालान्तर में मूल संघ जैसे ही काष्ठा, द्राविड़ आदि और संघ भी स्थापित हुए। इन सभी संघों पर निर्ग्रन्थ और यापनीय संघों का प्रभाव अधिक है।

मूलसंघ का प्राचीनतम उल्लेख 'नोया मंगल' के दानपत्र में पाया जाता है, जिसका समय शक सं. 347 (वि. सं. 482) के आसपास है। आचार्य इन्द्रनन्दि (11 वीं शताब्दी) ने मूलसंघ का परिचय देते हुए लिखा है कि पुण्डवर्धनपुर (बोगरा, बंगाल) के निवासी आचार्य अर्हद्बली (लगभग वि. .सं 275) पाँच वर्ष के अन्त में सौ योजन में रहने मुनियों को एकत्र कर युगप्रतिक्रमण किया करते थे। एकबार इसी प्रकार प्रतिक्रमण के समय उन्होंने मुनियों से पूछा-'क्या सभी मुनि आ चुके? मुनियों से उत्तर मिला—हाँ, सभी मुनि आ चुके। अर्हद्बली ने उत्तर पाकर यह सोचा कि समय बदल रहा है। अब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म का अस्तित्व गणपक्षपात के आधार पर ही रह सकेगा, उदासीन भाव से नहीं । तब उन्होंने संघ अथवा गण स्थापित किये । गुहाओं से आनेवाले मुनियों को 'नन्दि' और 'वीर' संज्ञा दी, अशोक वाटिका से आनेवालों को "देव" और "अपराजित" कहा, पञ्चस्तूप से आनेवालों को" सेन या 'भद्र" नाम दिया, शाल्मलिवृक्ष से आनेवालों को "गुणधर" या गुप्त बताया तथा खण्डकेशर वृक्षों से आनेवालों को सिंह और चन्द्र कहकर पुकारा ।[34] इसी संदर्भ में इन्द्रनन्दि ने कुछ मतभेदों का भी उल्लेख किया है, जिससे पता चलता है कि इन्द्रनन्दि को भी संघभेद का स्पष्ट ज्ञान नहीं था । पर यह निश्चित है कि उस समय विशेषतः नन्दि । सेन देव और सिंह गण ही प्रचलित थे ।[35] उन्होंने गोपुच्छिक, श्वेताम्बर, द्रविड, यापनीय, और निपिच्छ को जैनाभास कहा है ।

इनमें नन्दि संघ प्राचीनतम संघ प्रतीत होता है । इस संघ की एक प्राकृत पट्टावली भी मिली है । ये कठोर तपस्वी हुआ करते थे । यापनीय और द्राविड़ संघ में भी नन्दिसंघ मिलता है । लगभग 14-15 वीं शताब्दी में नन्दिसंघ और मूलसंघ एकार्थ वाची से हो गये । नन्दिसंघ का नाम "नन्दि" नामान्तधारी मुनियों से हुआ जान पड़ता है ।

सेनसंघ का नाम भी सेनान्त आचार्यों से हुआ होगा । जिनसेन एक संघ के प्रधान नायक कहे जा सकते हैं । उनके पूर्व संभव है उसे पञ्चस्तूपान्वय कहा जाता हो । जिनसेन ने अपने गुरू वीरसेन को इसी अन्वय का लिखा है । इस अन्वय का उल्लेख पहाड़पुर (बंगाल) के पाँचवी शताब्दी के शिलालेखों में तथा हरिवंश कथाकोष में भी मिलता है । 'सेनगण' नाम भी उत्तरकालीन ही प्रतीत होता है । यह दक्षिण भारत के भट्टारकों में अधिक प्रचलित रहा है ।

मूलसंघ के अन्तर्गत जो शाखाएँ प्रशाखाएँ उपलब्ध होती हैं, उन्हें हम निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं ।[36]

1. **अन्वय** —कोण्डकुन्दान्वय, श्रीपुरान्वय, कित्तूरान्वय, चन्द्रकवायन्वय, चित्रकूटान्वय निगमान्वय आदि ।

2. **बलि** — इनसोगे या पनसोगे इंगुलेश्वर एवं वाणद बलि आदि ।

3. **गच्छ**—चित्रकूट, होत्तगे, तगरिक, होगरि, पारिजात, मेषपाषाण, तित्रिणीक, सरस्वती, पुस्तक, वक्रगच्छ आदि ।

4. **संघ**—नावित्मूरसंघ, मयुरसंघ, किचूरसंघ, कोशलनूर संघ, गनेश्वरसंघ, गौड़संघ, श्रीसंघ, सिंहसंघ, परलूरसंघ आदि ।

5. **गण**—बलात्कार, सूरस्थ, कालोग्र, उदार, योगरिय, पुलागवृक्ष मूलगण, पंकुर, देवगण, सेनागण, सूरस्थगण, क्राणूरगण आदि ।

ये गण दक्षिण भारत में अधिक पाये जाते हैं, उत्तर भारत में कम । उनमें प्रधानतः उल्लेखनीय हैं— कोण्डकुन्दान्वय, सरस्वतीपुस्तक गच्छ, सूरस्थगण, क्राणूरगण एव बलात्कारगण ।

---

34. श्रुतावतार, 96.
35. नीतिसार, 6-8;
36. चौधरी गुलाबचन्द्र–दिगम्बर जैन संघ के अतीत की झांकी, आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ. 295.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोण्डकुन्दान्वय का ही रूपान्तर कुन्दकुन्दान्वय है, जिसका सम्बन्ध स्पष्टतः आचार्य कुन्दकुन्द से है। यह अन्वय देशीगण के अन्तर्गत गिना जाता है। इसका (देशीगण) उद्भव लगभग 9वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में देश नामक ग्राम (पश्चिमघाट के उच्चभूमिभाग और गोदावरी के बीच) में हुआ था। कर्नाटक प्रान्त में इस गण का विशेष विकास 10-11 वीं शताब्दी तक हो गया था।

मूलसंघ के अन्य प्रसिद्ध गणों में सूरस्थगण, क्राणूर गण और बलात्कारगण विशेष उल्लेखनीय हैं। सूरस्थ गण सौराष्ट्र, धारवाड़ और बीजापुर जिले में लगभग 13वीं शती तक अधिक लोकप्रिय रहा है। क्राणूरगण का अस्तित्व 14 वी शती तक उपलब्ध होता है। इसकी तीन शाखाएँ थीं। तन्मिणी गच्छ, मेषपाषण गच्छ और पुस्तक गच्छ। बलात्कारगण के प्रभाव से ये शाखाऐं हतप्रभ हो गई थीं। इनके अनुयायी भट्टारक पद्मनन्दि को अपना प्रधान आचार्य मानते रहे है। पद्मनन्दी स्वभावत; आचार्य कुन्दकुन्द का द्वितीय नाम था। बलात्कारगण का उद्भव बलगार ग्राम में हुआ था। यह कहा जाता है कि बलात्कारगण के उद्भाबक पद्मनन्दि ने गिरनार पर पाषण से निर्मित सरस्वती को वाचाल कर दिया। इसलिए बलात्कारगण के अन्तर्गत ही एक सारस्वत गच्छ का उदय हुआ। इसका सर्वप्रथम उल्लेख शक सं. 993-994 के शिलालेख में मिलता है। कर्नाटक प्रान्त में इस गण का विकास अधिक हुआ है पर इसकी शाखाऐं कारंजा, मलयखेड़, लातूर, देहली, अजमेर, जयपुर, सूरत, ईडर, नागौर, सोनागिर आदि स्थानों पर भी स्थापित हुई हैं। भट्टारक पद्मनन्दी और सकलकीर्ति आदि जैसे कुशल साहित्यकार इसी बलात्कारगण में हुए हैं। राजस्थान मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में इस बलात्कारगण का कार्यक्षेत्र अधिक रहा है। एक अन्य शाखा सेनगण की परम्पराऐं कोल्हापुर, जिनकाँची (मद्रास), पेनुगोण्ड (आन्ध्र) और कारंजा (विदर्भ) में उपलब्ध होती हैं।

मूलसंघ के आचार्यों ने इतर संघों को जैनाभास कहा है। ऐसे संघों में उन्होंने द्राबिड़ काष्ठा एवं यापनीय की गणना की है। जैनाभास बताने का मूल कारण यह था कि उनमें शिथिलाचार की प्रवृत्ति अधिक आ चुकी थी। वे मन्दिर आदि का निर्माण कराते थे और तन्निमित्त दान स्वीकार करते थे। पर यह ठीक नहीं। क्योंकि आशाधर जैसे विद्वान इसी तथाकथित जैनाभाष संघों में से थे, जिन्होंने शिथिलाचार की कठोर निन्दा की है।

द्राविड़ संघ

द्राविड़ संघ का सम्बन्ध स्पष्टतः तमिल प्रदेश से रहा है। ई० पूर्व चतुर्थ शताब्दी में वहाँ जैन धर्म पहुँच चुका था। सिंहल द्वीप में जो जैनधर्म पहुँचा वह तमिल प्रदेश होकर ही गया। आचार्य देवसेन ने इस संघ की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि बज्रनन्दि ने वि सं. 526 में मथुरा में इस सघ की स्थापना की थी। इस संघ की दृष्टि में वाणिज्य व्यवसाय से जीविकार्जन करना और शीतल जल से स्नानादि करना विहित माना गया है। तमिल प्रदेश में शैव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी। सप्तम शताब्दी में उसके साथ अनेक संघर्ष भी हुए। इस संघ को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से इसके यक्ष याक्षिणियों की पूजा-प्रतिष्ठा आदि की भी स्वीकार कर लिया गया। पद्मावती की मान्यता यहीं से प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है।

होयसल नरेशों के लेखों से पता चलता है कि वे इस संघ के संरक्षक रहे हैं। उन्हीं के लेख इस संघ के विषय में सामग्री से भरे हुए हैं। द्राविड़ संघ के साथ ही इस संघ में कोण्डकुन्दान्वय, नन्दिसंघ, पुस्तकगच्छ और अरुंगलान्वय को भी जोड़ दिया गया है। संभव है अपने संघ को अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से यह कदम उठाया गया हो मैसूर प्रदेश इसके प्रचार प्रसार का केन्द्र रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्राविड़ संघ में अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। उनमें वादिराज और माल्लिषेण विशेष उल्लेखनीय है। उनके ग्रन्थों में मंत्र तंत्र के प्रयोग अधिक मिलते हैं। भट्टारक प्रथा का प्रचलन विशेषतः द्राविड़ संघ से ही हुआ होगा।

काष्ठ संघ

काष्ठासंघ की उत्पत्ति मथुरा के समीपवर्ती काष्ठा ग्राम में हुई थी। दर्शनसार के अनुसार वि. सं. 753 में इसकी स्थापना विनयसेन के शिष्य कुमारसेन के द्वारा की गई थी। तदनानुसार मयूर पिछ के स्थान पर गोपिच्छ रखने की अनुमति दी गई वि. स 853 में रामसेन ने माथुर संघ की स्थापना कर गोपिच्छ रखने को भी अनावश्यक बताया है। बुलाकीचन्द के वचन कोश (वि.सं. 1737) में काष्ठा संघ की उत्पत्ति उमा स्वामी के शिष्य लोहाचार्य द्वारा निर्दिष्ट है।

काष्ठा संघ का प्राचीनतम उल्लेख श्रवण बेलगोला के वि. सं. 1119 के लेख में मिलता है। सुरेन्द्र कीर्ति (वि. सं. 1747) द्वारा लिखित पट्टावली के अनुसार लगभग 14 वीं शताब्दी तक इस संघ के प्रमुख चार अवान्तर भेद हो गये थे — माथुरगच्छ, वागडगच्छ, लाट-वागडगच्छ एवं नन्दितगच्छ। बारहवीं शती तक के शिलालेखों में ये नन्दितगच्छ को छोड़कर शेष तीनों गच्छ स्वतन्त्र संघ के रूप में उल्लिखित हैं। उनका उदय क्रमशः मथुरा, बागड (पूर्व गुजरात) और लाट दक्षिण गुजरात) देश में हुआ था। चतुर्थ गच्छ नन्दितट की उत्पत्ति नान्देड़ (महाराष्ट्र) में हुई दर्शनसार के अनुसार नान्देड़ महाराष्ट्र ही काष्ठा संघ का उद्भव स्थान है। संभव है इस समय तक उक्त चारों गच्छों को एकीकरण कर काष्ठासंघ नाम दे दिया गया हो इस संघ में जयसेन, महासेन आदि जैसे अनेक प्रसिद्ध आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं। अग्रवाल, खण्डेलवाल आदि उप जातियां इसी संघ के अन्तरगत निर्मित हुई हैं।

यापनीय संघ

दर्शनसार के अनुसार इस संघ की उत्पत्ति वि. सं. 205 में श्री कलश नामक श्वेताम्बर साधु ने की थी। संघभेद होने के बाद शायद यह प्रथम संघ था जिसने श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों की मान्यताओं को एकाकार कर दोनों को मिलाने प्रयत्न किया था। इस संघ के आचार के अनुसार साधु नग्न रहता, मयुर–पिच्छ धारण करता, पाणितलभोजी होता और नग्न मूर्ति की पूजन करता था।[37] पर विचार की दृष्टि से वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समीप थे। तदनुसार वे स्त्रीमुक्ति, केवलीकवलाहार और सवस्त्रमुक्ति मानते थे उनमें आवश्यक छेदसूत्र, निर्युक्ति, दशवैका-लिक आदि श्वेताम्बरीय ग्रन्थों का भी अध्ययन होता था।[38]

आचार विचार का यह संयोग यापनीय संघ की लोकप्रियता का कारण बना। इसलिए इसे राज्य संर–क्षण भी पर्याप्त मिला। कदम्ब, चालुक्य, गंग राष्ट्रकूट, रट्ठ आदि वंशों के राजाओं ने यापनीय संघ को प्रभूत दानादि देकर उसका विकास किया था। इस संघ का अस्तित्व लगभग 15 वीं शताब्दी तक रहा है, यह शिलालेखों से प्रमाणित होता है। ये शिलालेख विशेषतः कर्नाटक प्रदेश में मिलते हैं। यही इसका प्रधान केन्द्र रहा होगा। बेलगांव, बीजापुर, धारवाड़ कोल्हापुर आदि स्थानों पर भी यापनीय संघ का प्रभाव देखा जाता है।

37. षड्दर्शन समुच्चय, षट्प्राभृतटीका, पृ. 7 छ.

38. अमोघ वृत्ति 1-2-201-4.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यापनीय संघ भी कालान्तर में अनेक शाखा प्रशाखाओं में विभक्त हो गया। उसकी सर्वप्रथम शाखा 'नन्दिगण, नाम से प्रसिद्ध है। कुछ अन्य गणों का भी उल्लेख शिलालेखों में मिलाता है जैसे—कनकोपलसम्भूतवृक्षमूल गण, श्रीमूलगण, पुन्नागवृक्षमूलगण कौमुदीगण मडुवगण, वान्दियूरगण, कण्डूरगण, बलहारीगण आदि ये नाम प्रायः वृक्षों के नामों पर रखे गये हैं। सम्भव है इस संघ ने उन वृक्षों को किसी कारणवश महत्व दिया हो। लगता है, बाद में यापनीय संघ मूलसघ से सम्बद्ध हो गया होगा। लगभग 11 वीं शताब्दी तक नन्दिसंघ का उल्लेख द्रविड़संघ के अंतर्गत होता रहा और 12 वीं शताब्दी से वह मूलसंघ के अंतभूत होता हुआ दिखता हैं।

यापनीय संघ के आचार्य साहित्य सर्जना में भी अग्रणी थे। पाल्यकीर्ति का शकटायन व्याकरण, अपराजित की मूलाराधना पर विजयोदया टीका और शिवार्य की भगवती आराधना का विशेष उल्लेख यहाँ किया जा समता है।

भट्टारक सम्प्रदाय

उक्त संघों की आचार विचार परम्परा की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट आभास होता है कि जैन संघ में समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। यह संघ मूलतः निष्परिग्रही और वनवासी था, पर लगभग चौथी पाँचवी शताब्दी में कुछ साधु चैत्यों में भी आवास करने लगे। यह प्रवृत्ति श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों परम्पराओं में लगभग एक साथ पनपी। इस तरह जहाँ साधु सम्प्रदाय दो भागों में विभक्त हो गया वनवासी और चैत्यवनी पर ये दोनों शब्द श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित हुए दिगम्बर सम्प्रदाय में उनका स्थान क्रमशः मूलसंघ और द्राविड़ संघ ने ले लिया। बाद में तो मूलसंघी भी चैत्यवासी बनते दिखाई देने लगे। आचार्य गुणभद्र (नवीं शताब्दी) के समय साधुओं की प्रवृत्ति नगरवास की ओर अधिक झुकने लगी थी। इसका उन्होंने तीव्र विरोध भी किया।[39]

मध्ययुग तक आते-आते जैनधर्म की आचार व्यवस्था में काफी परिवर्तन आ गया। साधु समाज में परिग्रह और उपभोग के साधनों की ओर खिचाव अधिक दिखाई देने लगा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो यह प्रवृत्ति बहुत पहले से ही प्रारम्भ हो गई थी। पर दिगम्बर सम्प्रदाय भी अब वस्त्र की ओर आकर्षित होने लगा। इसका प्रारम्भ वसन्तकीर्ति (13 वीं शताब्दी) द्वारा मण्डपदुर्ग (मांडलगढ़, राजस्थान) में किया गया।[40] भट्टारक प्रथा भी लगभग यहीं से प्रारम्भ हो गई। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वे दिगम्बर भट्टारक नग्नमुद्रा को पूज्य मानते थे और यथावसर उसे धारण करते थे। स्नान को भी वे वर्जित नहीं मानते थे। पिच्छी के प्रकार और उपयोग में भी अन्तर आया धीरे-धीरे ये साधु-मठाधीश होने लगे और अपनी पीठ स्थापित करने लगे। उस पीठ की प्रचुर सम्पदा के भी वे उत्तराधिकारी होने लगे। इसके बावजूद उनमें निर्वस्त्र रहने अथवा जीवन के अन्तिम समय नग्न मुद्रा धारण करने की प्रथा थी। प्रसिद्ध विद्वान भट्टारक कुमुदचन्द्र पालकी पर बैठते थे, छत्र लगाते थे और नग्न रहते थे।[41]

लगभग बारहवीं शती तक आते-आते भट्टारक समुदाय का आचार मूलाचार से बहुत भिन्न हो गया।

---

39. आत्मानुशासन, 197.
40. भट्टारक सम्प्रदाय, विद्याधर जोहरापुरकर, आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड पृ. 37.
41. जैन निबन्ध रत्नावली 405.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशाधर ने उनके आचार को म्लेच्छों के आचार के समान बताया है।[42] सोमदेव ने भी यशस्तिलक चम्पू में इसका उल्लेख किया है।[43] श्वेताम्बर चैत्यवासियों में भी इसी प्रकार का कुत्सित आचरण घर कर गया था, जिसका उल्लेख हरिभद्र ने संबोध प्रकरण में किया है। उन्होंने लिखा है कि ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं, पूजा करने का आरम्भ करते हैं, देव द्रव्य का उपभोग करते हैं, जिन मन्दिर और शालाएँ चिनवाते है, रंग-बिरंगे सुगन्धित धूपवासित वस्त्र पहिनते हैं, बिना नाथ के बैलों के सदृश स्त्रियों के आगे गाते हैं, आर्यिकाओं द्वारा लाये गये पदार्थ खाते हैं और तरह तरह के उपकरण रखते हैं। जल, फल, फूल आदि संचित्त द्रव्यों का उपभोग करते हैं, दो तीन बार भोजन करते और ताम्बूल लवंगादि भी खाते हैं।

ये मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, भभूत भी देते है। ज्योंनारों में मिष्ठाहार प्राप्त करते हैं, आहार के लिए खुशामद करते है और पूछने पर भी सत्य धर्म नहीं बतलाते।

स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी दूसरों से आलोचना प्रतिक्रमण कराते हैं। स्नान करते, तेल लगाते, श्रृंगार करते और इत्र फुलेल का उपयोग करते हैं। अपने हीनाचारी मृतक गुरूओं की दाहभूमि पर स्तूप बनवाते हैं। स्त्रियों के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियाँ उनके गुणों के गीत गाती हैं।

सारी रात सोते, क्रय-विक्रय करते और प्रवचन के बहाने बिकथायें किया करते हैं। चेला बनाने के लिए छोटे-छोटे बच्चों को खरीदते, भोले लोगों को ठगाते और जिन प्रतिमाओं को भी बेचते खरीदते हैं। उच्चाटन करते और वैद्यक यन्त्र, मन्त्र, गण्डा, ताबीज आदि में कुशल होते हैं।

ये श्रावकों को सुविहित साधुओं के पास जाते हुए रोकते हैं, शाप देने का भय दिखाते हैं, परस्पर विरोध रखते हैं, और चेलों के लिए एक दूसरे से लड़ मरते हैं।

जो लोग इन भ्रष्टचारियों को भी मुनि मानते थे, उनको लक्ष्य करके हरिभद्र ने कहा है, "कुछ अज्ञानी कहते हैं कि यह तीर्थकरों का वेष है, इसे भी नमस्कार करना चाहिए। अहो! धिक्कार हो इन्हें। मैं अपने शिर के शूल की पुकार किसके आगे जाकर करूँ।[44]

दिगम्बर साधुओं में भी लगभग इसी प्रकार का आचरण प्रचलित हो गया था। महेन्द्रसूरि की शतपदी (वि. स. 1263) इसका प्रमाण है। तदनुसार दिगम्बर मुनि नग्नत्व के प्रावरण के लिए योगपट्ट (रेशमी वस्त्र) आदि धारण करते थे। उत्तर काल में उसका स्थान वस्त्र ने ले लिया। श्रुतसगर की तत्त्वार्थसूत्र टीका में यह भी लिखा है कि शीतकाल में ये दिगम्बर मुनि कम्बल आदि भी ग्रहण कर लेते थे और शीतकाल के व्यतीत होने के उपरान्त वे उन्हें छोड़ देते थे। धीरे-धीरे ऋतु काल का भी बन्धनत्व दूर हो गया और साधु यथेच्छ वस्त्र धारण करने लगे। साथ ही गद्दे, तकिये, पालकी छत्र, चंवर, मठ, सम्पत्ति आदि विलासी सामग्री का भी परिग्रह बढ़ने लगा। ऐसे साधुओं को भट्टारक अथवा चैत्यवासी कहा गया है।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि मध्यकालीन जैन संघ में यह शिथिलाचार सुरसा की भाँति बढ़ता चला जा रहा था। विशुद्धतावादी आचार्यों ने उसकी घनघोर

---

42. अनागार धर्मामृत, 2,96.
43. जैन साहित्य और इतिहास–पृ. 489.
44. संबोध प्रकरण, 76: जैन साहित्य का इतिहास, पृ. 480–81.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निन्दा की फिर भी उसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। दूसरा मूल कारण था कि समाज का मानसिक परिवर्तन बड़ी तीव्रता से होता चला जा रहा था। भट्टारकों का मुख्य कार्य मूर्तियों की प्रतिष्ठा, मन्दिरों का निर्माण और उनकी व्यवस्था, यान्त्रिक, मान्त्रिक और तान्त्रिक प्रतिपादन तथा यक्ष-यक्षणियों और देवी-देवताओं का भजन-पूजन हो गया। साधारण समाज में ये कार्य बड़े लोकप्रिय हो गये थे। अतः उपासकों में भट्टारक समाज के प्रति श्रद्धा जाग्रत हो गई थी। भट्टारकों के कारण मूर्ति और स्थापत्य कला को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिला। जैन ग्रन्थभण्डार स्थापित किये गये, साहित्य सृजन और संरक्षण की ओर अभिरुचि जाग्रत हुई तथा जैनधर्म का प्रभावना-क्षेत्र बढ़ गया। जैन संघ और सम्प्रदाय को भट्टारक सम्प्रदाय की यह देन अविस्मरणीय है।

तेरहपन्थ और बीसपन्थ

भट्टारक सम्प्रदाय का उक्त आचार-विचार जैन धर्म के कुशल ज्ञाताओं के बीच आलोचना का विषय बना रहा। कहा जाता है कि उसके विरोध में पण्डित प्रवर बनारसी दास ने सत्रहवीं शताब्दी में आगरा में एक आन्दोलन चलाया। इसी आन्दोलन का नाम तेरह पन्थ रखा गया। इसके नाम के विषय में कोई निर्विवाद सिद्धान्त नहीं है। इस तेरहपन्थ की दृष्टि में भट्टारकों का आचार सम्यक नहीं। वह तो महावीर के द्वारा निर्दिष्ट मूलाचार को ही मूल सिद्धान्त स्वीकार करता है। यह पन्थ समाज में काफी लोकप्रिय हो गया। दूसरी ओर भट्टारकों अथवा चैत्यवासियों के अनुयायी अपने आप को बीसपन्थी कहने लगे। इस पन्थ के अनुयायी प्रतिमाओं पर केसर लगाते तथा पुष्पमालायें और हरे फल आदि चढ़ाते हैं। तेरहपन्थ के अनुयायी इसके विरोधक है।

तारणपन्थ

पन्द्रहवीं शताब्दी तक मुस्लिम आक्रमणों ने जैन मूर्तिकला और स्थापत्यकला को गहरा आघात पहुंचा दिया था। उन्होंने इन सभी साँस्कृतिक धरोहरों को अधिकाधिक परिमाण में नष्ट भ्रष्ट कर दिया था। ये अचेतन मूर्तियाँ इस कार्य का कोई विरोध नहीं कर सकी। प्रत्युत उन्होंने आपत्तियों को निमन्त्रित किया। फलस्वरूप दिगम्बर सम्प्रदाय के ही व्यक्ति के मन में यह बात जम गई कि मूर्ति पूजा अनावश्यक है और उसने अपना नया पन्थ प्रारम्भ कर दिया। कालान्तर में इस पन्थ के संस्थापक तारणतरण स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सन् 1515 में उनका स्वर्गवास मल्हारगढ़ (ग्वालियर) में हुआ। यही स्थान आज नसिया जी कहलाता है, जो आज एक तीर्थ स्थान बन गया है। इस पन्थ का विशेष प्रचार मध्यप्रदेश में हुआ। इसके अनुयायी मूर्ति के स्थान पर शास्त्र की पूजा करते हैं। ये दिगम्बर सम्प्रदाय में मान्य सभी ग्रन्थों को स्वीकार करते हैं। तारणतरण स्वामी ने तारणतरण श्रावकाचार, पण्डितपूजा, मालारोहण, कमलबत्तीसी, उपदेशशुद्धसार, ज्ञानसमुच्चयसार, अंमल पाहुड़, चौबीसठाण, त्रिभङ्गीसार आदि 14 छोटे-मोटे ग्रन्थों की रचना की हैं उनमें श्रावकाचार प्रमुख हैं।

श्वेताम्बर संघ और सम्प्रदाय

जैसा हम पहले कह चुके हैं, श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति एक विकास का परिणाम है। कुछ समय तक श्वेताम्बर साधु वस्त्र को अपवाद के रूप में ही कटिवस्त्र धारण किया करते थे। पर बाद में लगभग आठवीं शती में उन्होंने उन्हें पूर्णतः स्वीकार कर लिया। साधारणतः उनके पास ये चौदह उपकरण होते हैं— पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्रप्रमार्जनिका, पटल, रजस्माण; गुच्छक, दो चादर, कम्बल (ऊनी वस्त्र), रजोहरण, मुखवस्त्रिका, मात्रक और चोलक। महावीर निर्वाण के लगभग 1000 वर्ष बाद देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अपने ग्रन्थों का संकलन श्रुति परम्परा के आधार पर किया जिन्हें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बरों ने स्वीकार नहीं किया। इसका मूल कारण था कि वहाँ कतिपय प्रकरणों को काट-छाँट और तोड़-मरोड़कर उपस्थित किया गया था। श्वेताम्बर सघ में निम्नलिखित प्रधान सम्प्रदाय उत्पन्न हुए।

चैत्यवासी

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वनवासी साधुओं के विपरीत लगभग चतुर्थ शताब्दी में एक चैत्यवासी साधु सम्प्रदाय खड़ा हो गया, जिसने वनों को छोड़कर चैत्यों (मन्दिरों) में निवास करना और ग्रन्थ संग्रह के लिए आवश्यक द्रव्य रखना विहित माना। इसी के पोषण में उन्होंने निगम नामक शास्त्रों की रचना भी की। हरिभद्रसुरि ने इन चैत्यवासियों की ही निन्दा अपने संबोध प्रकरण में की है। चैत्यवासियों ने 45 आगमों को प्रमाणिक स्वीकार किया है।

वि. सं. 802 में अणहिलपुर पट्टाण के राजा चावड़ा ने अपने चैत्यवासी गुरू शीलगुणसुरि की आज्ञा से यह निर्देश दिया कि इस नगर में वनवासी साधुओं का प्रवेश नहीं हो सकेगा। इससे पता चलता है कि लगभग आठवीं शताब्दी तक चैत्यवासी सम्प्रदाय का प्रभाव काफी बढ़ गया था। बाद में वि. सं. 1070 में दुर्लभदेव की सभा में जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागर सूरि ने चैत्यवासी साधुओं से शास्त्रार्थ करके उक्त निर्देश को वापिस कराया। इसी उपलक्ष्य में राजा दुर्लभदेव ने वनवासियों को खरतर नाम दिया। इसी नाम पर खरतरगक्छ की स्थापना हुई।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय कालान्तर में विविध गच्छों में विभक्त हो गया। उन गच्छों में प्रमुख गच्छ इस प्रकार हैं[45] :–

१. **उपदेशगच्छ**--पार्श्वनाथ का अनुयायी केशी इसका संस्थापक कहा जाता है।

2. खरतरगच्छ—जैसा उपर कहा जा चुका है, खरतरगच्छ की स्थापना में दुर्लभदेव का विशेष हाथ रहा है। उनके अतिरिक्त वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ किया था।

३. तपागच्छ— वि. सं. 1285 में जगच्चन्द्रसूरि की कठोर साधना को देखकर मेवाड़ के राजा ने उन्हें 'तपा' अभिधान दिया। तभी से उनका संघ तपागच्छ के नाम से पुकारा जाने लगा। कालान्तर में उन्हीं के अन्यतम शिष्य विजयचन्द्रसूरि ने शिथिलाचार को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने यह स्थापित किया कि साधु अनेक वस्त्र रख सकता है, उन्हें धो सकता है, घी, दूध शाक्, फल आदि खा सकता है, साध्वी द्वारा अर्जित भोजन ग्रहण कर सकता है।

४. पार्श्वनाथगच्छ – वि. सं. 1515 में तपागच्छ से पृथक् होकर आचार्य पार्श्वचन्द्र से इस गच्छ की स्थापना की। वे निर्युक्ति, भाष्य, चुर्णि, और छेद ग्रन्थों को प्रमाण कोटि में नहीं रखते थे।

५. **सार्ध पौर्णमीयकगच्छ**—आचार्य चन्द्रप्रभसूरि ने प्रचलित क्रियाकाण्ड का विरोधकर पौर्णमीयक गच्छ की स्थापना की। वे महानिशीथ सूत्र को प्रमाण नहीं मानते थे। कुमारपाल के विरोध के कारण इस गच्छ का कोई विशेष विकास नहीं हो पाया। कालान्तर में सुमतिसिंह ने इस गच्छ का उद्धार किया। इसलिए इसे सार्ध पौर्णमीयकगच्छ कहा जाने लगा।

6. अंचलगच्छ—उपाध्याय विजयसिंह (आर्यरक्षितसूरि) ने मुखपट्टी के स्थान पर अंचल (वस्त्र का छोर) के उपयोग करने की घोषणा की। इसीलिए अंचलगच्छ कहा जाता हैं।

---

45. विस्तार से देखें–जैन धर्म—कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ. 290-2.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. आगमिकगच्छ—इस गच्छ के संस्थापक शीलगुण और देवभद्र पहले पौर्णमेयक थे, बाद में आंचलिक हुए और फिर आगमिक हो गये। वे क्षेत्रपाल की पूजा को अनुचित बताते थे। सोलहवीं शती में इसी गच्छ की एक शाखा 'कटुक' नाम से प्रसिद्ध हुई। इस शाखा के अनुयायी केवल श्रावक ही थे।

इन गच्छों की स्थापना छोटे-मोटे कारणों से हुई है। प्रत्येक गच्छ की साधु-चर्या पृथक्-पृथक् है। इन गच्छों में आजकल खरतरगच्छ, तपागच्छ और आंचलिकगच्छ ही अस्तित्व में हैं।

स्थानकवासी

स्थानकवासी सम्प्रदाय की उत्पत्ति चैत्यवासी सम्प्रदाय के विरोध में हुई। पन्द्रहवीं शताब्दी में अहमदाबादवासी मुनि ज्ञानश्री के शिष्य लोकाशाह ने आगमिक ग्रन्थों के आधार पर यह प्रस्थापित किया कि मूर्ति पूजा और आचार-विचार जो आज के समाज में प्रचलित है वह आगम विहित नहीं हैं। इसे लोकागच्छ नाम दिया गया।

उत्तरकाल में सूरतवासी एक साधु ने लोकागच्छ की आचार परम्परा में कुछ सुधार किया और ढूंढिया सम्प्रदाय की स्थापना की। लोकागच्छ के सभी अनुयायी इस सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये। इसके अनुसार अपना धार्मिक क्रियाकर्म मन्दिरों मे न कर स्थानकों अथवा उपाश्रयों में करते हैं। इसलिए इस सम्प्रदाय को स्थानकवासी सम्प्रदाय कहा जाने लगा। इसे साधुमार्गी भी कहते हैं। यह सम्प्रदाय तीर्थयात्रा में भी विशेष श्रद्धा नहीं रखता। इसके साधु श्वेतवस्त्र पहनते और मुखपट्टी बांधते हैं। अठारहवीं शती में सत्यविजय पंयास ने साधुओं को श्वेतवस्त्र के स्थान पर पीत वस्त्र पहिनने का विधान किया, पर आज यह आचार में दिखाई नहीं देता। भट्टारक प्रथा भी इसी समय प्रारम्भ हुई।

तेरापन्थ

स्थानकवासी सम्प्रदाय में आचार-विचार की शिथिलता बढ़ रही थी। श्रावकों में उसकी प्रतिक्रिया के दर्शन हो रहे थे। उनका मानस भिक्षुओं के प्रति श्रद्धा से विदूर हो रहा था। यह सब देखकर स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित आचार्य भिक्षु (जन्म वि. स. 1783, कन्टालिया--जोधपुर) ने वि. सं. 1817 चैत्र-शुक्ला 9 के दिन अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना का सूत्रपात किया। लगभग तीन माह बाद उन्होंने तेरापन्थ की दीक्षा स्वीकार की। इस अवसर पर उनके साथ तेरह साधु थे और तेरह श्रावक। इसी संख्या पर इस सम्प्रदाय का नाम "तेरापन्थ" रख दिया गया। 'तेरा' शब्द से यह भी आशय निकलता है कि हे भगवान ! यह तुम्हारा ही मार्ग है जिस पर हम चल रहे हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के समान तेरापन्थ भी बत्तीस आगमों को प्रामाणिक मानता है। तदनुसार प्रमुख मान्यतायें इस प्रकार हैं—

(1) षष्ठ या षष्ठोत्तार गुणस्थानवर्ती सुपात्र संयमी को यथाविधि प्रदत्त दान ही पुण्य का मार्ग हैं।

(2) जो आत्मशुद्धिपोषक दया है वह परमार्थिक है और जिसमें साध्य और साधन शुद्धि नहीं है, वह मात्र लौकिक है।

(3) मिथ्यादृष्टि के दान, शील, तप आदि अनवद्य अनुष्ठान मोक्ष प्राप्ति के ही हेतु हैं और निर्जरा धर्म के अन्तर्गत हैं।

इस सम्प्रदाय में एक ही आचार्य होता है और उसी का निर्णय अन्तिम रूप से मान्य होता है। इससे संघ में फूट नही हो पाती। अभी तक तेरापन्थ के आठ आचार्य हो चुके हैं–भिक्षु (भीखम), भारमल, रामचन्द्र, जीतमल, मछवागणी, माणकगणी, डालगणी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और कालूगणी। इसी श्रृंखला में आचार्य तुलसी जी नवम् आचार्य हैं।

तेरापन्थ की संघ व्यवस्था विशेष प्रशंसनीय है। उदाहरणतः (1) साधु के भोजन, वस्त्र, पुस्तक आदि जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति का सामुदायिक उत्तर-दायित्व संघ पर है। (2) प्रति वर्ष साधु-साध्वियाँ आचार्य के सान्निध्य में एकत्रित होकर अपने-अपने कार्यों का विवरणं प्रस्तुत करते हैं और आगामी वर्ष का कार्यक्रम तैयार करते हैं। इसे मर्यादा महोत्सव कहा जाता है। (3) संघ में दीक्षित करने का अधिकार मात्र आचार्य को है, अन्य किसी को नहीं।

इस व्यवस्था से संघ का एक ओर जहाँ सामुदायिक विकास होता है वहाँ वैयक्तिक विकास की भी संभावनाएँ अधिक बन जाती हैं। विकास में बाधक होती हैं रुढ़ियां जो तेरापन्थ में यथा समय भग्न होती चली जाती हैं। आचार-विचार की दिशा में भी यह पन्थ आगे हैं।

इस प्रकार महावीर के निर्वाण के बाद जैन संघ और सम्प्रदाय अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो गया। पर उनका आचार-विचार जैन धर्म के मूल रूप से बहुत दूर नहीं रहा। इसलिए उनमें वह-ह्रास नहीं आया जो बौद्धधर्म में आ गया था। जैन संघ की यह विशेषता जैनेतर संघों की दृष्टि से निःसंदेह महत्व-पूर्ण है।

□ □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org